International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 03-01-2026, Accepted: 02-02-2026, Published: 17-02-2026
Volume 12, Issue 1, 2026, Page No. 126-128

हिंदी साहित्येतिहास लेखन और दलित आलोचना

भगवान साहु
सह आचार्य, हिंदी विभाग, डॉ भीमराव अंबेडकर राजकीय, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, निंबाहेडा, राजस्थान, भारत

सारांश
हिंदी दलित आलोचना के बुनियादी संदर्भ साहित्य विमर्श में एक महत्त्वपूर्ण और व्यापक विषय है, जिसने भारतीय साहित्य विमर्श को पूरी तरह से बदल दिया है। इसे समझने के लिए उन बुनियादी संदर्भों की जांच आवश्यक है जिनसे यह निर्मित हुई है और जिनके खिलाफ यह विद्रोह करती है। हिंदी दलित आलोचना के बुनियादी आधारभूत सन्दर्भों में हिंदी साहित्यक इतिहास लेखन, भक्ति परंपराएं, मुख्य धारा की आलोचनात्मक प्रतिक्रियाएं और प्रेमचंद विमर्श शामिल हैं। इन संदर्भों से बौद्धिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य का निर्माण हुआ है और दलित आलोचना विकसित हुई है। हिंदी दलित आलोचना के इन बुनियादी संदर्भों को प्रखर दलित आलोचक डॉ. धर्मवीर, प्रख्यात दलित चिन्तक ओमप्रकाश वाल्मीकि, एवं कंवल भारती, मोहनदास नैमिशराय जैसे प्रसिद्ध आलोचकों ने अपने विशिष्ट आलोचनात्मक लेखन से समृद्ध किया है। न केवल इन आलोचकों ने पारंपरिक साहित्य और साहित्यिक मानदंडों का विरोध किया है, अपितु एक नए सौंदर्य शास्त्र और नई वैचारिकी का निर्माण करते हुए दलित साहित्य के इतिहास लेखन के मार्ग को भी प्रशस्त किया है। उन्होंने पारंपरिक इतिहास लेखन की स्थापित मान्यताओं एवं मूल्यांकन की कसौटियों पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए इन आधारभूत संदर्भों की जांच की है जो कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति करती है।
सबसे पहले, यह हमें उस बौद्धिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने में मदद करती है जिसके खिलाफ दलित आलोचना उभरी है। दूसरा, यह बताता है कि दलित आलोचकों ने साहित्यिक विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए नई पद्धतियाँ कैसे विकसित की हैं। तीसरा, यह दर्शाता है कि दलित आलोचना ने परिचित ग्रंथों और लेखकों के लिए नए दृष्टिकोण लाकर भारतीय साहित्यिक परंपराओं की हमारी समझ को कैसे समृद्ध किया है। अंत में, यह हमें यह समझने में मदद करता है कि साहित्यिक आलोचना स्वयं सामाजिक परिवर्तन के लिए एक उपकरण के रूप में कैसे काम कर सकती है। दलित आलोचना का दायरा सिर्फ़ साहित्यिक विश्लेषण से आगे इतिहास लेखन से जुड़ता है और भारतीय साहित्यिक इतिहास के पारंपरिक आख्यानों पर सवाल उठाता है। यह जाँचता है कि मुख्यधारा के साहित्यिक इतिहास ने किस तरह दलित आवाज़ों और अनुभवों को व्यवस्थित रूप से बहिष्कृत या हाशिए पर रखा है। इस आलोचनात्मक जुड़ाव ने दलित दृष्टिकोण से साहित्यिक इतिहास को फिर से लिखने का काम किया है, जिससे भूली हुई या दबाई गई साहित्यिक परंपराओं को सामने लाया गया है। शोध आलेख में हम देखेंगे कि दलित आलोचना ने हिंदी साहित्यिक विमर्श को कैसे चुनौती दी है और समृद्ध किया है। स्थापित मान्यताओं पर सवाल उठाकर, हाशिए पर पड़ी आवाज़ों को फिर से सामने लाकर और नई आलोचनात्मक पद्धतियों को विकसित करके, दलित आलोचकों ने साहित्य और समाज में इसकी भूमिका के बारे में हमारी सोच को बदल दिया है। इन आधारभूत संदर्भों के साथ उनका जुड़ाव साहित्यिक आलोचना और सामाजिक परिवर्तन के लिए नई अंतर्दृष्टि और संभावनाएँ पैदा करता रहता है।

मूल शब्दः इतिहास का विलोपन, पुनर्पाठ और पुनर्लेखन, वर्चस्ववादी व्यवस्था, मुख्यधारा, हाशिए की आवाज, व्यवस्था विरोध, वैचारिक हस्तक्षेप, काल विभाजन, सौंदर्य शास्त्र, भाषाई शुद्धतावाद

प्रस्तावना

हिंदी दलित आलोचना के बुनियादी सन्दर्भों में साहित्य इतिहास लेखन एक महत्त्वपूर्ण विषय है। साहित्यिक इतिहास की वंचनाओं और असमानताओं की प्रतिक्रिया के रूप में दलित आलोचना विकसित हुई है, इसलिए पारंपरिक इतिहास लेखन की जातीय सीमाओं को उजागर करते हुए साहित्यिक इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता पर इन्होंने जोर दिया है।
उल्लेखनीय है कि इतिहास लेखन का लक्ष्य स्थापित ऐतिहासिक विषयों, आख्यानों को प्रस्तुत करना है, जबकि उन विषयों और आख्यानों में दलितों के अनुभव और दृष्टिकोण को शामिल कराना और स्थापित ढाँचे को चुनौती देना दलित आलोचना का उद्देश्य है। पारंपरिक इतिहास लेखन में उन्हीं रचनाओं और रचनाकारों को सम्मिलित किया गया है जो स्थापित मानदंडों पर खरे उतरते हैं। स्थापित वर्चस्ववादी व्यवस्था के प्रति असहमति प्रकट करते हुए और उसका विरोध करते हुए जिन रचनाकारों ने अपने अनुभवों, संघर्षों को सपाट भाषा में अभिव्यक्त करने की कोशिश की है, उन्हें मुख्यधारा का हिस्सा नहीं माना गया है और न ही इतिहास में उनके महत्त्व का सही आकलन प्रस्तुत किया गया है। पारंपरिक इतिहास में इन आवाजों को सम्मिलित नहीं किए जाने से और उनका समुचित मूल्यांकन नहीं होने से दलित आलोचना ऐसे इतिहास को खारिज करती है और दलित दृष्टि से इतिहास के पुनर्पाठ और पुनर्लेखन की मांग करती है। दलित आलोचकों का मानना है कि जो इतिहास वंचितों की पीड़ा नहीं पहचानता और जिसमें वंचितों और हाशिए के लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं है, वह अधूरा इतिहास है जो स्वीकार नहीं है।
हिंदी दलित साहित्य के इतिहास लेखन के संदर्भ में दलित आलोचना में एक महत्त्वपूर्ण कथन सामने आया है – "इतिहास में जो चुप है, वही दलित आलोचना का विषय है।" कथन हिंदी दलित आलोचना का एक तरह से आलोचनात्मक घोषणा पत्र है, जो दलित आलोचना की मूल स्थापना और सिद्धांत को बहुत ही गहराई से व्यक्त कर रहा है। इस कथन के आशय को समझना और उसका विस्तृत विवेचन– विश्लेषण करना महत्त्वपूर्ण है। यह कथन दलित साहित्य को वैचारिक आधार देने वाले बाबा साहब अंबेडकर के उस दर्शन का निचोड़ है, जिसमें वर्चस्ववादी दृष्टिकोण द्वारा दलित– उपेक्षितों पर थोपी गई चुप्पी और उपेक्षा को चुनौती देते हुए उपेक्षित धारा की आवाज को मुख्यधारा में शामिल कराने की जिद है। पारंपरिक इतिहास लेखन वस्तुतः वर्चस्व की वैचारिकी का ही विस्तार है, जिसमें जाने अनजाने वर्ण व्यवस्था और हिंदू धर्म के सामाजिक ढाँचे का समर्थन प्राप्त है।
हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की मुख्यधारा का प्रतिनिधित्व आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि एवं उनके प्रमुख इतिहास ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का

इतिहास' (1929) एवं 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (1952) है। पारंपरिक हिंदी साहित्य इतिहास द्वारा अपनाई गई काल विभाजन योजना और नामकरण, भक्तिकाल और भक्त कवियों की काव्य दृष्टि, उनकी लोकमंगल और समष्टि चेतना, रीतिकालीन और दरबारी संस्कृति तथा आधुनिक काल में साहित्य में 'जन समूह की चेतना' और 'जनता की चित्तवृत्ति' के चित्रण में अंतर्निहित मान्यताओं को हिंदी दलित आलोचना प्रश्नांकित करती है। धार्मिक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना से जुड़ी इतिहास दृष्टि में दलित आलोचना दलित वंचित वर्ग की पीड़ा और उनके आवाज की खोज करती है। वह इतिहास के काल विभाजन के आधारों पर सवाल उठाती है। आदिकाल और भक्तिकाल जैसे नामों को सामाजिक चेतना के बजाय सवर्ण साहित्यिक मानदंडों पर आधारित मानती है और समग्रता का दावा करने वाले मुख्यधारा के इतिहास में निहित सीमित अंतर्दृष्टि को उजागर करती है।

पारंपरिक हिंदी साहित्यिक इतिहास द्वारा अपनाई गई काल–विभाजन योजना उनकी अंतर्निहित मान्यताओं के बारे में बहुत कुछ बताती है। आदिकाल (1050–1375 सं.), भक्तिकाल (1375–1700 सं.), रीतिकाल (1700–1850 सं.) और आधुनिक काल (सं. 1850 के बाद) में विभाजन केवल कालानुक्रमिक नहीं था – इसमें साहित्यिक मूल्य और सांस्कृतिक प्रामाणिकता के बारे में निहित निर्णय थे। यह काल–विभाजन सांस्कृतिक निरंतरता के बारे में राष्ट्रवादी चिंताओं और वैध साहित्य की संरचना के बारे में ब्राह्मणवादी मान्यताओं दोनों को दर्शाता है।

पारंपरिक इतिहास में भक्तिकाल का चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जबकि इस अवधि को इसकी धार्मिक और साहित्यिक उपलब्धियों के लिए माना जाता था, जिस तरह से इसकी व्याख्या की गई थी, वह अक्सर उच्च–जाति के दृष्टिकोण को दर्शाती थी। पारंपरिक इतिहास भक्ति कविता के आध्यात्मिक पहलुओं पर जोर देते थे, जबकि इसकी सामाजिक आलोचना को कम महत्त्व देते थे। कबीर जैसे कवियों की क्रांतिकारी क्षमता को अक्सर उनके काम को मुख्य रूप से धार्मिक आवरण के माध्यम से व्याख्या करके बेअसर कर दिया गया था।

पारंपरिक साहित्येतिहास में इस्तेमाल किए गए चयन के मानदंड जांच के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पारंपरिक इतिहासकारों ने अक्सर साहित्यिक अभिव्यक्ति के कुछ रूपों को प्राथमिकता दी जबकि अन्य को हाशिए पर रखा। उदाहरण के लिए, मौखिक परंपराओं को लिखित ग्रंथों, बोली के रूपों पर मानकीकृत भाषा और लोक अभिव्यक्तियों पर दरबारी साहित्य को प्राथमिकता दी गई। इस चयनात्मक दृष्टिकोण ने एक साहित्यिक सिद्धांत बनाया जो उच्च जाति, शिक्षित अभिजात वर्ग की सांस्कृतिक प्राथमिकताओं को दर्शाता है।

इन इतिहासों में भाषा के चयन से उनके दृष्टिकोण का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू सामने आता है। पारंपरिक इतिहास कार अक्सर वही पसंद करते थे जिसे वे 'शुद्ध' हिंदी मानते थे, संस्कृत से प्राप्त शब्दावली और मानकीकृत व्याकरण को प्राथमिकता देते थे। इस भाषाई शुद्धतावाद के कारण अक्सर उन ग्रंथों को हाशिए पर धकेल दिया जाता था, जिनमें मिश्रित भाषाओं या बोली के रूपों का इस्तेमाल किया जाता था, भले ही उनका सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्त्व हो।

दलित आलोचना, काल विभाजन में दलित चेतना के क्रांतिकारी चेतना और उद्घोष की अनदेखी का आरोप लगाती है और पारंपरिक साहित्य इतिहास लेखन में जाति आधारित असमानता की अनदेखी को, साहित्यिक मूल्यांकन की सवर्ण कसौटियों को चुनौती देती है। दलित आलोचक इसे 'इतिहास का विलोपन' कहते हुए साहित्य इतिहास के पुनर्लेखन की मांग करते हैं। दलित आलोचना भक्त कवियों–कबीर, रैदास जैसे सामाजिक लोकोन्मुख संत कवियों को रहस्यवाद के आध्यात्मिक दायरे में रखकर पारंपरिक साहित्येतिहास लेखन के एकांगी मूल्यांकन का विरोध करती है और भक्ति आंदोलन को धार्मिक आंदोलन की बजाय वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध सामाजिक संघर्ष मानते हुए इसके मूल्यांकन पर जोर देती है। वह तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और उनके द्वारा स्थापित राम राज्य की अवधारणा को मनुवादी विचारधारा का पोषक मानते हुए, कबीरदास द्वारा व्यवस्था विरोध के विद्रोही स्वर को आलोचना के केंद्र में स्थापित करती है। दलित आलोचकों द्वारा इस पारंपरिक ढाँचे के लिए लाई गई पहली बड़ी चुनौती इसकी काल–विभाजन योजना पर बुनियादी सवाल उठाना था। धर्मवीर की मौलिक रचना 'कबीर के आलोचक' (1998) ने उजागर किया कि कैसे पारंपरिक इतिहासकारों ने मध्यकालीन ग्रंथों में जाति–विरोधी तत्वों को मुख्य रूप से धार्मिक या सौंदर्यवादी चश्मे से पढ़कर व्यवस्थित रूप से गलत व्याख्या की या बेअसर कर दिया। यह केवल वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करने का मामला नहीं था; इसने दिखाया कि कैसे पारंपरिक इतिहास लेखन ने स्वीकार्य कथा संरचनाओं के भीतर उन्हें ढालकर चुनौतीपूर्ण आवाज़ों को नियंत्रित करने और शांत करने के लिए सक्रिय रूप से काम किया था।

साहित्य इतिहास के पुनर्लेखन में दलित आलोचना रीतिकाल के शृंगारी और दरबारी वातावरण में सृजित साहित्य का विरोध करती है एवं कला, 'कला के लिए' सिद्धांत के विरूद्ध इसे 'जीवन का और जीवन की जिजीविषा' के विमर्श के रूप में स्थापित करने पर बल देती है। दलित आलोचना प्रेमचंद को समय के दबाव में बदलते हुए सामंती विचारों का प्रतिनिधि लेखक घोषित करते हुए स्वानुभूति और सहानुभूति जैसे नए विमर्श को आगे बढ़ाती है। दलित आलोचक दलित आलोचना के लिए प्रतिमान गढ़ते हैं, दलित साहित्य के सौंदर्य शास्त्र के माध्यम से भोगे हुए यथार्थ, सामाजिक प्रतिबद्धता, विद्रोह के स्वर और समता की स्थापना पर बल देते हैं। इस तरह दलित आलोचना का साहित्य इतिहास लेखन में सक्रिय हस्तक्षेप पारंपरिक इतिहास लेखन को चुनौती देती है और नई इतिहास दृष्टि की मांग करती है।

वस्तुत: हिंदी साहित्य इतिहास का लेखन और दलित साहित्य आलोचना का संबंध विरोध और पुनर्निर्माण का संबंध है। हिंदी के पारंपरिक इतिहास लेखन की विसंगतियों, मान्यताओं एवं काल विभाजन और मूल्यांकन की कसौटियों पर प्रश्न चिन्ह लगाकर दलित आलोचना ने एक बड़ा वैचारिक हस्तक्षेप किया है जो हिंदी साहित्य के इतिहास को नई नजरिया से देखने की दलित आलोचकों की जिद को उजागर करती है। पारंपरिक इतिहास लेखन की प्रवृत्ति और उसके मूल्यांकन के प्रतिमान–कला, शिल्प, रस, सौंदर्य बोध और संकुचित 'लोक धर्म' जैसे सवर्ण केंद्रित अवधारणाओं, जहाँ दलित चेतना या तो उपेक्षित है या फिर विकृत, दलित आलोचना पारंपरिक इतिहास लेखन की इस प्रवृत्ति पर ही प्रश्न चिन्ह लगाती है और साहित्य इतिहास के पुनर्पाठ और पुनर्लेखन की मांग करती है, जिसमें सवर्ण वर्चस्व की जगह सामाजिक प्रतिबद्धता, दलित चेतना और दलित संघर्ष मुख्य हो।

दलित आलोचना ने साहित्यिक इतिहास लेखन, भक्ति साहित्य, मुख्यधारा की आलोचना और विमर्श के साथ जुड़कर हिंदी दलित आलोचना को एक नया आयाम दिया है। इसकी खोज के माध्यम से हम दलित आलोचनात्मक विचार के विकास और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक अध्ययनों के लिए इसके व्यापक महत्त्व को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में दलित आलोचना का हस्तक्षेप मौजूदा आख्यानों में नई आवाजें जोड़ने से कहीं ज्यादा है। इसने साहित्यिक इतिहास के बारे में हमारी सोच को मौलिक रूप से चुनौती दी है। पारंपरिक इतिहास के काल विभाजन पर सवाल उठाकर, प्रतिरोध की अनदेखी परंपराओं को उजागर करके और साहित्यिक विकास को समझने के लिए नए तरीके विकसित करके दलित आलोचकों ने साहित्यिक इतिहास कैसे लिखा जाना

चाहिए, इस बारे में हमारी समझ को विस्तृत किया है। इतिहास लेखन पर दलित आलोचकों के हस्तक्षेप दलित, स्त्री और अन्य हाशिए के समुदायों के अनुभवों को इतिहास में सम्मिलित कराने का मार्ग प्रशस्त किया है।

संदर्भ

1. एन. सिंह – दलित साहित्य के प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
2. डॉ. धर्मवीर: कबीर के आलोचक, वाणी–प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
3. डॉ. धर्मवीर: प्रेमचंद सामंत का मुंशी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
4. गोपेश्वर सिंह (सं०) भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2009
5. मैनेजर पाण्डेय – भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
6. डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' (सं): सामाजिक न्याय और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2014